ओ३म्

भारतीय साहित्य में विद्या का महत्त्व

लेखक
ब्र० नन्दकिशोर विद्यावाचस्पति एम.ए.

ओ३म्

भारतीय साहित्य में विद्या का महत्त्व

लेखक

ब्र० नन्द किशोर विद्यावाचस्पति एम.ए.

सम्पादक

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

अध्यक्ष

सार्वदेशिक दयानन्द संन्यासी वानप्रस्थ

मण्डल ज्वालापुर, हरद्वार

प्रकाशक

अनिता आर्ष प्रकाशन, पानीपत

प्रथम संस्करण] महर्षि दयानन्द [मूल्य [redacted]

बोधोत्सव फरवरी १९९३

भारतीय साहित्य में विद्या का महत्त्व

एक प्रशस्ति

श्री ब्रह्मचारी नन्दकिशोरजी विद्यावाचस्पति एक उच्चकोटि के विद्वान्, व्याख्याता, लेखक, सम्पादक, संग्रहकर्त्ता, धर्मोपदेष्टा, गुणग्राहक, सत्यान्वेषी, त्यागी, तपस्वी, उत्साही, कर्मठ, विविध कार्यों में संलग्न परहितकर्त्ता व्यक्ति हैं। इन्होंने कई उत्कृष्ट पुस्तकों का संकलन, सम्पादन एवं प्रकाशन किया है। कई उपयोगी ग्रन्थों के पूर्व संकलन खोजकर एवं सम्पादित कर श्री आदित्य प्रकाशजी आर्य के अनीता प्रकाशन से प्रकाशित कराये हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन्होंने विद्या के स्वरूप, महत्त्व आदि पर मिलनेवाली सूक्तियों का संकलन कर उन्हें अर्थसहित उपस्थित किया है। आशा है इससे पाठक, विशेषकर छात्रवर्ग भरपूर लाभ उठाएँगे। श्री ब्रह्मचारीजी के कार्यों के प्रति मेरी हार्दिक शुभ कामनाएँ हैं।

वेदमन्दिर
ज्वालापुर, हरद्वार

रामनाथ वेदालंकार
पूर्व आचार्य गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
(हरद्वार)
२०-४-६२

मुद्रक : राधा प्रेस, कैलाश नगर, दिल्ली-
[redacted]
लेजर कंपोजिंग : भगवती प्रकाशन, मॉडल टाउन, दिल्ली-६

विद्या

विद्या शब्द चार धातुओं से बनता है और विद्या शब्द के चार ही अर्थ होते हैं—विद् सत्तायाम्, विद् विचारणे, विद् ज्ञाने और विद्लृ लाभे।

"वेत्ति यथार्थतत्त्वं पदार्थस्वरूपं यया सा विद्या", अर्थात् किसी भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना विद्या कहलाता है।

'आर्योद्देश्यरत्नमाला' में लिखा है—"जिससे ईश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, उसका नाम विद्या है।"

वेदों में विद्या का महत्त्व

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ —यजुः० ४०।१४

अर्थ—जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-साथ जानता है वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।

विद्या के विषय में वेद में बहुत कुछ कहा है—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरो दधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥

—अ० ४।२१।३

अर्थ—विद्याएँ कभी नष्ट नहीं होती हैं, यह अनश्वर धन हैं। विद्या-धन को तस्कर चुरा नहीं सकते, दुःखदायी शत्रु भी इसका तिरस्कार नहीं कर सकते। विद्या धन वह धन है जिसके द्वारा देवयज्ञादि पञ्चयज्ञ किये जाते हैं और जिसका दान सर्वोत्तम है तथा इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मा गोपति का निरन्तर इस विद्या के साथ सम्बन्ध रहता है अर्थात् मरने पर जीवात्मा के साथ केवल विद्या-धन ही जाता है, अन्य सारे सांसारिक ऐश्वर्य यहीं रह जाते हैं।

विद्या किस-किस प्रकार और किन कर्मों से होती है ?

चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति । आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति ॥ —महा०अ० १।१।१ आ० १

अर्थ—विद्या चार प्रकार से आती है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहारकाल से । आगमकाल उसे कहते हैं कि जिसमें मनुष्य सावधान होकर, ध्यान देके पढ़ानेवाले से विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सके । स्वाध्याय-काल उसे कहते हैं कि पठन-समय में आचार्य के मुख से जो शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों, उन्हें एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचारके हृदय में ठीक-ठीक दृढ़ कर सके । प्रवचनकाल उसे कहते हैं जिसमें दूसरे को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना । व्यवहारकाल उसे कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्यविद्या होती है, तब यह करना, यह न करना, वही ठीक-ठीक सिद्ध होके वैसा ही आचरण करना हो सके ।

मनुस्मृति में विद्या का महत्त्व

बालकों के उत्थान-हेतु मनुस्मृति में मनु महाराज ने बड़े सुन्दर ढंग से कहा है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशोबलम् ॥

अर्थ—जो बालक और बालिका अनुभवी, ज्ञानी, वृद्धजन, माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी इत्यादि को प्रतिदिन हाथ जोड़कर नमस्ते=प्रणाम करते हैं, और उनका आशीर्वाद लेते हैं उन्हें सदैव आयु, विद्या, यश और बल की प्राप्ति होती है । यह शिष्टाचार बालकों को अपने जीवन में सदैव अपनाना चाहिए ।

याद रखो—जो बालक और बालिका अंकलजी, टाटा, बिड़ला और गुड्मॉर्निंग आदि कहकर भारतीय शिष्टाचार के विपरीत आचरण करते हैं, वे महानता से वंचित रह जाते हैं । महर्षि मनु ने और बहुत कुछ कहा है। उन्होंने विद्या और तप से आत्मा की शुद्धि बताई है—

अद्भिर्गात्राणि शुद्‌ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्‌ध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्‌ध्यति ॥ —मनु० ५।१०६

अर्थ—जल से शरीर की शुद्धि होती है, मन सत्य से शुद्ध होता है, विद्या और तप से आत्मा की शुद्धि होती है और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ —मनु० ६।६१

अर्थ—मनुस्मृतिकार ने जहाँ धर्म के दश लक्षण बताये उसमें विशेषरूप से विद्या को भी धर्म में सम्मिलित किया है ।

उपनिषदों में अध्यात्मविद्या का महत्त्व और उपदेश

मुण्डक उपनिषद् में परा-अपरा-विद्या

ब्रह्मा ने ब्रह्म-विद्या का उपदेश अपने ज्येष्ठ पुत्र 'अथर्वा' को किया । अथर्वा ने ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राचीनकाल के एक ऋषि अंगिरा को दिया। अंगिरा ने उसका उपदेश भरद्वाज-गोत्रिय सत्यवाह को किया । पिछला अगले को जो उपदेश देता गया, उसी उपदेश को अंगिरा ने भारद्वाज को दिया ।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥
तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म ।
यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥—मुण्ड० १।१।३-४

कुछ समय पश्चात् शौनक नाम का एक जिज्ञासु हुआ । उसकी बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ थी । वह अंगिरा के पास शिष्टाचार-पूर्वक पहुँचा और पूछने लगा, हे भगवन् ! किसके जानने से यह सब-कुछ जाना जाता है ? अंगिरा ने शौनक से कहा—ब्रह्मवित् लोग यह कहते हैं कि दो विद्याओं को जानना चाहिए—'परा' तथा 'अपरा' ॥४॥

इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष का ज्ञान 'अपरा' विद्या है। जिस विद्या से उस 'अक्षर-ब्रह्म' का ज्ञान हो वह 'परा' विद्या है।

'परा' विद्या से जिस 'अक्षर-ब्रह्म' का ज्ञान होता है वह देखा नहीं जा सकता, ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसका कोई वंश नहीं, वर्ण नहीं, उसके आँख-कान नहीं, हाथ-पाँव नहीं। वह नित्य है, विभु है, सब जगह पहुँचा हुआ है, किन्तु सूक्ष्म है, अव्यय है, सब भूतों का कारण है। बुद्धिमान् लोग 'परा' विद्या से उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं।

छान्दोग्य-उपनिषद् में नारद और सनत्कुमार का संवाद

कहते हैं कि एक बार सनत्कुमार अर्थात् सदा कुमार-रूप रहनेवाले ऋषि के पास नारदमुनि पहुँचे और उनसे कहा, भगवन् ! मुझे ज्ञान दीजिए। ऋषि ने कहा, जो कुछ तुम पहले जानते हो वह बतलाओ, तब मैं उससे आगे तुम्हें शिक्षा दूँगा। नारद ने कहा—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां सर्प-देवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि ॥२॥

भगवन् ! मैंने ऋग्वेद पढ़ा है, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा आथर्वण, पाँचवाँ इतिहास-पुराण, वेदों के वेद (अर्थात् जिससे वेद स्पष्ट हो जाते हैं), पित्र्य (शूश्रुषा-विज्ञान), राशि (गणित), दैव-विद्या (उत्पत्ति-विज्ञान), निधि-शास्त्र (अर्थशास्त्र), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र या कानून), एकायन (नीतिशास्त्र-अर्थशास्त्र), देव-विद्या (निरुक्त), ब्रह्म-विद्या (ब्रह्म का ज्ञान), भूत-विद्या (भौतिकी, रसायन तथा प्राणि-शास्त्र), क्षत्र-विद्या (धनुर्विद्या), नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष), सर्पविद्या (विष-ज्ञान), देवजनविद्या (ललित-कला)—इन्हें भी पढ़ा है।

भगवन् ! यह सब-कुछ पढ़कर मैं 'मन्त्रवित्' हुआ हूँ, 'आत्मवित्' नहीं हुआ—मुझे शब्द ज्ञान तो हो गया है, आत्मज्ञान नहीं हुआ है ! मैंने

आप-सरीखे महात्माओं से सुना है—"**तरति शोकमात्मवित्**"—जो आत्मा को जान जाता है वह दुःख-सागर को तर जाता है। भगवन्! मैं शोकसागर में डूबा जा रहा हूँ, आप मुझे इससे पार उतारिए। यह सुनकर सनत्कुमार ने नारद से कहा, तूने अबतक जो सीखा है, वह नाम-मात्र है ॥२॥

सांख्यदर्शन के चतुर्थाऽध्याय में आत्मतत्त्वोपदेशादि-विवेकज्ञान के साधनों को ऐतिहासिक दृष्टान्त देकर पुष्ट करते हैं।

राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात् ॥१॥

अर्थ—राजा के पुत्र के समान तत्त्वोपदेश होने से विवेक ज्ञान होता है।

एक राजा अपने पुत्र के साथ जंगल में शिकार खेलने गया, पुत्र बहुत छोटा-सा था, वह जंगल में राजा से बिछुड़ गया, जंगल में किसी शबर जातीय व्यक्ति को मिल गया, शबर ने उसे पाल-पोषकर बड़ा कर दिया, अब वह अपने को अज्ञान से 'मैं शबर का पुत्र हूँ', ऐसा सबसे कहता था, राजा के मन्त्री को किसी प्रकार से पता चल गया कि राजपुत्र जीवित है, मन्त्री राजपुत्र के पास पहुँच जाता है और उसे समझाता है कि तुम शबर के पुत्र नहीं हो, तुम तो अमुक राजा के पुत्र हो, तुम जंगल में राजा के साथ आये थे, उनसे बिछुड़ गये। वह बालक मन्त्री के इस कथन के अनन्तर अपने आप को शबर समझने की मिथ्या भावना से मुक्त हो जाता है, और अपने को यथार्थ रूप से राजा समझने लगता है। इसी प्रकार आत्मविषयक अज्ञान के निवृत्त होने पर विवेक अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार हो जाता है और वह प्रकृति के बन्धन से छूट जाता है।

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ॥२॥

अर्थ—पिशाच के समान अन्य के लिए (वस्तुतत्त्व) का उपदेश होने पर विवेक-ज्ञान का लाभ हो जाता है।

एक आत्मज्ञानी गुरु अपने शिष्य को उपदेश देने के लिए सुविधा की दृष्टि से एकान्त जंगल में ले-गया और वहीं निवास कर उसे आत्मज्ञान का उपदेश देता रहा। उस उपदेश को एक पिशाच छिपकर बराबर सुनता रहता था। उसके अनुसार आचरण करता हुआ वह भी कालान्तर में

आत्मज्ञानी हो गया। सन्मार्ग का उपदेश कहीं से किसी तरह प्राप्त हो जाए उसके अनुसार आचरण करने से तत्त्वज्ञान अवश्य हो जाता है ॥२॥

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥३॥

अर्थ—यदि एक बार के उपदेश से विवेक प्राप्ति न हो तो फिर उपदेश करना चाहिए, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में लिखित आरुणि-श्वेतकेतु के संवाद से यह अर्थ स्पष्ट होता है।

पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ॥४॥

अर्थ—दोनों के देखे जाने से पिता और पुत्र के समान विवेक के द्वारा प्रकृति और पुरुष दोनों ही दीखते हैं।

कोई मनुष्य अपनी गर्भिणी स्त्री को छोड़कर परदेश गया था, जब वह आया तो देखता क्या है कि पुत्र उत्पन्न होकर पूरा युवा हो गया लेकिन न तो वह पुत्र जानता है कि यही मेरा पिता है और न वह पुरुष जानता है कि यही मेरा पुत्र है, तब उस स्त्री ने दोनों को प्रबोध (ज्ञान) कराया कि यह तेरा पिता है, तू इसका पुत्र है। इसी तरह विवेक भी प्रकृति और पुरुष का जनानेवाला है। वैराग्य हो जाने पर भी त्याग भावना को दृढ़ बनाना चाहिए।

श्येनवत्सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ॥५॥

अर्थ—श्येन के समान त्याग और वियोग से सुखी और दुःखी होता है।

संसार का यह नियम है कि जब-जब द्रव्य-प्राप्ति होती है, तब-तब तो आनन्द और जब वह द्रव्य चला जाता है तभी दुःख होता है। दृष्टान्त—कोई श्येन (बाज़) किसी पक्षी का मांस लिये चला जाता था। उसी समय किसी व्याघ्र ने पकड़ लिया और उससे मांस छीन लिया तो वह अत्यन्त दुःखी होने लगा। यदि आप ही उस मांस को त्याग देता तो क्यों दुःख भोगता ? इस कारण आप ही विषय-वासना इत्यादि का त्याग कर देना चाहिए।

अहिनिर्ल्वयनीवत् ॥६॥

अर्थ—साँप की कैंचुली के समान। जैसे साँप पुरानी कैंचुली को छोड़ देता है, इसी तरह मुमुक्षुत्व (मोक्ष) की इच्छा करनेवाले को विषय त्याग देना चाहिए।

छिन्नहस्तवद्वा ॥७॥

अर्थ—कटे हाथवाले के समान। जैसे किसी मनुष्य का हाथ कटकर गिर पड़ता है, फिर वह कटे हुए हाथ से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रखता। इसी तरह विवेक-प्राप्ति होने पर जब विषय-वासना नष्ट हो जाती है तो मुमुक्षु फिर उन विषय-वासनाओं से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता।

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥८॥

अर्थ—असाधन का बार-बार चिन्तन बन्धन के लिए होता है, भरत के समान।

जो मोक्ष का साधन नहीं है लेकिन धर्म गिनकर साधन वर्णन कर दिया तो उसका जो विचार है, वह केवल बन्धन का ही कारण होगा न कि मोक्ष का। दृष्टान्त—जैसे राजर्षि भरत यद्यपि मोक्ष की इच्छा करनेवाले थे लेकिन किसी ने कोई अनाथ हरिण का बच्चा महात्मा को पालने के लिए दे दिया और उस अनाथ हरिण के बच्चे के पालन-पोषण में महात्मा के विवेक-प्राप्ति का समय नष्ट हो गया और मुक्ति न हुई। यद्यपि अनाथ का पालन राजा का धर्म था तथापि पालने के विचार से महात्मा से विवेक साधन न हो सका, इस वास्ते बन्ध का हेतु हो गया। इसी वास्ते कहते हैं कि धर्म कोई और वस्तु है और विवेक साधन कुछ और वस्तु है।

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशंखवत् ॥९॥

अर्थ—बहुतों के साथ सम्पर्क में, राग-द्वेष आदि के द्वारा संघर्ष हो जाता है, कुमारी के शंख के समान।

विवेक-साधन के समय बहुतों का संग न करे, किन्तु अकेला ही विवेक-साधन करे, क्योंकि बहुतों के साथ में राग-द्वेषादि की प्राप्ति होती है, उससे साधन में विघ्न होने का भय प्राप्त हो जाता है। **दृष्टान्त**—जैसेकि कोई कुमारी (कन्या) हाथों में चूड़ियाँ पहन रही थी, जब दूसरी कन्या के साथ उसका मेल हुआ तो आपस में धक्का लगकर चूड़ियों का झनकार शब्द हुआ। इसी तरह यहाँ भी विचारना चाहिए कि बहुतों के संग में विवेक-साधन नहीं हो सकता।

द्वाभ्यामपि तथैव ॥१०॥

अर्थ—दो के साथ भी विवेक साधन नहीं हो सकता, क्योंकि दो मनुष्यों में भी राग-द्वेषादि का होना सम्भव है।

निराशः सुखी पिंगलावत् ॥११॥

अर्थ—जो मनुष्य आशा को त्याग देता है, वह सदैव पिंगला नामक वैश्या के समान सुख को प्राप्त होता है।

दृष्टान्त—पिंगला नामवाली एक वेश्या थी। एक दिन जार मनुष्यों के आने का समय देखते-देखते बहुत रात बीत गई लेकिन कोई विषयी उसके पास न आया, तब वह जाकर सो रही। बाद में उस वेश्या को ख्याल हुआ—शायद अब कोई आदमी आये। ऐसा विचार कर वह वेश्या फिर उठ आई और बहुत समय तक जागती रही लेकिन फिर भी कोई न आया तो उस वेश्या ने अपने चित्त में बड़ी ग्लानि मानी और कहा कि (**आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्**) आशा बड़े दुःख देती है और नैराश्य में बड़ा भारी सुख है। ऐसा विचारकर उस वेश्या ने उस दिन से आशा त्याग दी और परम सुख को प्राप्त हुई। इसी तरह जो मनुष्य आशा को त्यागेंगे वे परम सुख को प्राप्त होंगे।

अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ॥१२॥

अर्थ—गृहादिकों के बनाये बिना भी पराये घर में सुखपूर्वक रह सकता है, जैसे साँप पराये घर में सुखपूर्वक वास करता है।

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ॥१३॥

अर्थ—बहुत से शास्त्रों से और गुरुओं से सार वस्तु, जो विवेक का साधन है, उसे ही लेना चाहिए। जैसे भौंरा फूलों का जो सार मधु है, उसे ग्रहण करता है, इसी तरह सार का लेना योग्य है।

इषुकारवत् नैकचित्तस्य समाधिहानिः ॥१४॥

अर्थ—जिसका मन एकाग्र रहता है, उसकी समाधि में किसी समय किसी प्रकार की भी हानि नहीं हो सकती।

दृष्टान्त—कोई बाण बनानेवाला अपने स्थल पर बैठा हुआ बाण बना रहा था, उसी समय उसकी बगल में होकर कटक सहित राजा निकल गया लेकिन उसे मालूम न हुआ कि कौन चला गया, और उसके काम में भी किसी प्रकार की बाधा न हुई, क्योंकि उसका मन अपने काम में आसक्त था।

कृतनियमलङ्घनादानर्थक्यं लोकवत् ॥१५॥

अर्थ—शौच; आचार आदि जो नियम विवेक की वृद्धि के वास्ते माने गये हैं, उनके लंघन से अर्थात् ठीक तौर से न पालने पर अनर्थ होता है और उन नियमों का फिर कुछ भी फल नहीं होता। जैसेकि रोगी के लाभ के वास्ते वैद्य ने पथ्य बताया लेकिन उसने कुछ पथ्य न किया, उसे कुछ अच्छा फल न होगा, किन्तु रोग वृद्धि को ही प्राप्त होगा।

तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ॥१६॥

अर्थ—तत्त्वज्ञान के भूलने से दुःख प्राप्त होता है।

दृष्टान्त—कोई राजा शिकार खेलने के वास्ते वन को गया था, वहाँ पर उस राजा ने दिव्यस्वरूप एक कन्या को देखा और उस कन्या को देखकर राजा मोहित हो गया और बोला—कन्ये ! तुम कौन हो ? वह बोली—राजन्! मैं भेकराज (मेढ़कों के राजा) की कन्या हूँ। तब राजा अपनी स्त्री होने के वास्ते उससे प्रार्थना करने लगा, तब वह कन्या बोली—राजन् ! अगर मुझे जल का दर्शन हो जाएगा तो मैं तेरा साथ छोड़ दूँगी, इस वास्ते मुझे जल का दर्शन नहीं होना चाहिए, यह मेरा नियम पालन करना होगा। राजा ने प्रसन्न होकर इस बात को स्वीकार कर लिया। एक समय वे दोनों आनन्द में आसक्त थे, तब वह कन्या राजा से बोली—कहीं जल है ? तो राजा ने उस बात को भूलकर उसे जल दिखा दिया। जल-दर्शन के समय ही वह कन्या उस रूप को छोड़कर जल में प्रवेश कर गई। तब राजा ने दुःखी होकर उस कन्या को जल के अन्दर बहुत देखा लेकिन वह फिर प्राप्त न हुई। जैसे राजा उस तत्त्व बात को भूलकर दुःख को प्राप्त हुआ, इसी तरह मनुष्य भी तत्त्वज्ञान के भूलने से दुःख को प्राप्त होता है।

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥१७॥

अर्थ—उपदेश के सुनने मात्र से कृतकृत्यता नहीं होती जब तक कि उसपर विचार न किया जाए। **दृष्टान्त**—प्रजापतिजी ने विरोचन और इन्द्र दोनों को सत्योपदेश किया था। इन्द्र ने उस उपदेश को सुनकर विचारा भी, परन्तु विरोचन ने न विचारा, केवल कान ही पवित्र किये।

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ॥१८॥

अर्थ—देखने में आया है कि उस श्रवण से इन्द्र को ही विवेक ज्ञान हुआ, विरोचन को नहीं; क्योंकि इन्द्र ने उस उपदेश का विचार किया था।

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्या सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ॥१९॥

अर्थ—गुरु के प्रति नम्र रहना, सदा गुरु की सेवा करना, ब्रह्मचर्य को धारण करना और वेद पढ़ने के वास्ते गुरु के पास जाना, इन्हीं कर्मों से विवेक की सिद्धि हो जाती है, जैसेकि इन्द्र को हुई थी।

न कालनियमो वामदेववत् ॥२०॥

अर्थ—इतने दिनों में विवेक उत्पन्न होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि वामदेव नामवाले एक ऋषि को पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण थोड़े दिनों में विवेक उत्पन्न हो गया था।

अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ॥२१॥

अर्थ—शरीर ही आत्मा है, वा मन ही परमात्मा है इस प्रकार अध्यस्त= आरोप करके जो उपासना की जाती है, उसके परम्परा-सम्बन्ध से विवेक होता है, जैसे पहले पुत्र को आत्मा माना, पीछे शरीर को उसके पश्चात् इन्द्रियों को। इसी प्रकार करते-करते आत्म-विवेक हो जाता है, जैसे यज्ञ करनेवालों की परम्परा-सम्बन्ध से मुक्ति होती है; क्योंकि यज्ञ करने से चित्त की शुद्धि होती है और चित्त शुद्धि से वासनाओं की न्यूनता आदि परम्परा से मुक्ति होती है, इसी प्रकार अध्यस्त उपासना से भी जाननी चाहिए।

इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पंचाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः ॥२२॥

अर्थ—यदि पञ्चाग्नि योग से इतर अर्थात् शान्ति का लाभ भी कर लिया तो भी कर्मों की वासना बलवती बनी रहेगी; अतएव वे कर्म फिर भी

उत्तरोत्तर उत्पन्न होते जाएँगे, इसी बात का श्रुतियाँ भी प्रतिपादन करती हैं। वे श्रुतियाँ छान्दोग्य उपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक के आदि में हैं, यहाँ विस्तार भय से उन्हें नहीं लिखा है।

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ॥२३॥

अर्थ—जो विरक्त है, अर्थात् जिसे विवेक हो गया है, उसे हेय (छोड़ने योग्य) का तो त्याग और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) का ग्रहण करना चाहिए। हेय अर्थात् छोड़ने लायक संसार है। उपादेय—ग्रहण करने लायक मुक्ति है, जैसे हंस जल को छोड़कर दूध पी लेते हैं। इसी तरह विरक्त को भी करना चाहिए।

लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत् ॥२४॥

अर्थ—अथवा जो ज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त हो गया है, यदि उसका संग हो जाए तो भी पहले कहे हुए हंस के समान विवेकी हो सकता है।

न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् ॥२५॥

अर्थ—राग के नाश हो जाने पर भी कामचारित्व (इच्छाधीन) न होना चाहिए, कारण यह है कि फिर बन्धन में पड़ने का भय प्राप्त हो सकता है। **दृष्टान्त**—जैसे कोई तोता दाने के लालच में होकर बन्धन में पड़ गया था। जब उसे मौका मिला तब वह उस बन्धन में से भाग गया फिर उस बन्धन के पास भय के मारे नहीं आया, क्योंकि अगर इसके पास जाऊँगा तो फिर बन्धन को प्राप्त होऊँगा। इसी पक्ष की और भी पुष्टि करेंगे।

गुणयोगाद् बन्धः शुकवत् ॥२६॥

अर्थ—जब कामचारी रहेगा, तब उसके गुणों में किसी की प्रीति हो जाएगी, तो भी उस विवेकी को फिर बद्ध होना पड़ेगा। जैसे मनोहर भाषण आदि गुणों से तोते का बन्धन हो जाता है।

न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥२७॥

अर्थ—भोगों को पूर्णरूप से भोगने से भी राग की शान्ति नहीं होती, जैसे सौभरि नामवाले मुनि ने भोगों को खूब अच्छी तरह भोगा, लेकिन

उससे कुछ भी शान्ति न हुई। मृत्यु के समय उस महात्मा ने ऐसा कहा भी था कि—

आमृत्युतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाऽद्य।
मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसंगि ॥

अर्थ—आज मुझे इस बात का पूरा-पूरा निश्चय हो गया कि मृत्यु तक मनोरथों का अन्त नहीं है और जो चित्त मनोरथों में लगा हुआ है उसमें विज्ञान का उदय कभी नहीं होता।

दोषदर्शनादुभयोः ॥२८॥

अर्थ—प्रकृति और प्रकृति के कार्यों के दोष—इन दोनों के देखने से रोगों की शान्ति होती है और जिसका चित्त राग-द्वेष इत्यादिकों से युक्त है, उसे उपदेश फल देनेवाला नहीं होता।

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥२९॥

अर्थ—रोगादिकों से मलिन चित्त में उपदेशरूपी ज्ञान-वृक्ष का बीज नहीं जमता, राजा अज के समान। राजा अज की स्त्री थी इन्दुमती, उस स्त्री से राजा का बड़ा भारी प्रेम था। कालवश होकर इन्दुमती मृत्यु को प्राप्त हो गई। राजा अज को उसके वियोग से बड़ा भारी दुःख हुआ। उसका हृदय स्त्री के वियोग से परम मलिन हो गया था। वसिष्ठजी ने उपदेश भी किया, लेकिन वियोग-मलिन-हृदय में उपदेश का अंकुर न जमा।

नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् ॥३०॥

अर्थ—मलिन हृदय में उपदेश का आभास-मात्र भी नहीं पड़ता, जैसे मैले दर्पण में प्रतिबिम्ब नहीं दीखता।

न तज्जस्यापि तद्रूपता पंकजवत् ॥३१॥

अर्थ—मोक्ष भी प्रकृति के ही सहारे से होता है, परन्तु जैसे प्रकृति से संसार उत्पन्न हुआ है, उस प्रकृति से उत्पन्न हुआ मोक्ष प्रकृतिरूप नहीं होता।

न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवदुपास्यसिद्धिवत् ॥३२॥

अर्थ—ऊहादि विभूतियों के मिलने पर भी कृत-कृत्यता नहीं होती, क्योंकि जैसा उपास्य (जिसकी उपासना की जाती है) होगा वैसी ही उपासक

को सिद्धि प्राप्त होगी अर्थात् जो धनवान् की उपासना की जाती है तो धन मिलता है और दरिद्र की उपासना करने पर कुछ भी नहीं मिलता। इसी प्रकार ऊह आदि सिद्धियाँ नाश होनेवाली हैं, इस वास्ते उनकी प्राप्ति से कृत-कृत्यता नहीं हो सकती। 'सिद्धिवत्, सिद्धिवत्' ऐसा जो दुबारा कहा है, सो अध्याय की समाप्ति का जतानेवाला है।

महाभारत, विदुर-प्रजागर में विद्यार्थियों के आठ दोषों का वर्णन किया गया है—

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्यं तथाऽत्यागित्वमेव च ॥
एतै वै अष्ट दोषाः स्यु सदा विद्यार्थिनां मताः ॥१॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी या त्यजेत्सुखम् ॥२॥

अर्थ—आलस्य—शरीर और बुद्धि में जड़ता, नशा, मोह—किसी वस्तु में फँसावट, चपलता और इधर-उधर की व्यर्थ कथा कहना-सुनना, पढ़ते-पढ़ाते रुक जाना, अभिमानी और अत्यागी होना, ये आठ दोष विद्यार्थियों में होते हैं ॥१॥

जो ऐसे हैं उन्हें विद्या कभी नहीं आती। सुख भोगने की इच्छा करनेवाले को विद्या कहाँ ? और विद्या पढ़नेवाले को सुख कहाँ ? क्योंकि विषय-सुखार्थी विद्या और विद्यार्थी विषय-सुख को छोड़ दे ॥२॥

राजा भर्तृहरि, चाणक्य और अन्य कवियों ने विद्या के विषय में बहुत कुछ प्रतिपादित किया है।

वाणी ही मनुष्य का सच्चा आभूषण

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोऽज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः ।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥ —भर्तृ १८

अर्थ—सुन्दर बाजूबन्द, चन्द्रमा के समान चमकीले मोतियों के हार, स्नान, चन्दनादि का लेपन, पुष्प-शृंगार और संवारे हुए बाल—ये सब मनुष्य को भूषित नहीं कर सकते। व्याकरण आदि से शुद्ध एवं सुमधुर वाणी ही मनुष्य का सच्चा आभूषण है। अन्य आभूषण तो कालक्रम से नष्ट हो जाते हैं, परन्तु वाणीरूपी आभूषण सदैव जगमगाता रहता है।

विद्या सम्पूर्ण गुणों की खान और गुप्त धन

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥११॥

अर्थ—विद्या मानव को रूपवान् बना देती है। विद्या गुप्त धन है। विद्या भोग-पदार्थों को देनेवाली है, यश और सुखों के देनेवाली है। विद्या गुरुओं का भी गुरु है। विद्या विदेश में बन्धु है। विद्या सबसे बड़ा देवता है, विद्या राजाओं में भी पूजी जाती है। जो जन विद्या से विहीन हैं, वे तो पशुतुल्य ही हैं। भर्तृहरि ने और भी कहा है—

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥१२॥

अर्थ—जिन मनुष्यों में न विद्या है न तप, न दान है न ज्ञान, न शील न जीवन में उत्तम गुण हैं और न धर्म, वे मनुष्य होते हुए भी पृथिवी पर पशु के समान विचरते हैं।

आचार्य चाणक्य ने कहा है—

कोकिलानां स्वरो रूपं स्त्रीणां रूपं पतिव्रतम्।
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम् ॥ —चा० ३।९

अर्थ—कोयलों का रूप स्वर, स्त्रियों का रूप पतिव्रतधर्म, कुरूपों का रूप विद्या और तपस्वियों की शोभा क्षमाशीलता है।

रूपयौवनसम्पन्नाः विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ —चा० ३।८

अर्थ—रूप और यौवन से सम्पन्न तथा ऊँचे कुल में जन्म लेने पर भी विद्याविहीन मनुष्य ऐसे ही सुशोभित नहीं होता, जैसे गन्धरहित ढाक के फूल ।

नक्षत्रभूषणं चन्द्रो नारीणां भूषणं पतिः ।
पृथिवी भूषणं राजा विद्या सर्वस्य भूषणम् ॥

अर्थ—आकाश का आभूषण चन्द्रमा है, नारी का आभूषण पति है; पृथिवी का आभूषण राजा है, परन्तु विद्या सभी का आभूषण है ।

विद्या सचमुच कामधेनु है—

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी ।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम् ॥ —चा० ४।५

अर्थ—विद्या में कामधेनु के समान गुण हैं, यह असमय में भी फल देनेवाली है, यह विदेश में माता के समान रक्षक और हितकारिणी होती है, इसलिए विद्या को गुप्त–छिपा हुआ धन कहा गया है ।

चाणक्य के स्वर में एक अन्य कवि ने भी बहुत कुछ कहा है—

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते,
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खदेम् ।
कीर्तिं च दिक्षु वितनोति ददाति लक्ष्मीं,
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥

अर्थ—विद्या माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हित-कार्यों में नियुक्त करती है, दुःख को दूर करके पत्नी के समान आनन्द प्रदान करती है, चहुँ दिशाओं में कीर्ति फैलाती है, धन की प्राप्ति कराती है । कल्पवृक्ष की भाँति विद्या क्या नहीं देती ? सभी कुछ तो प्रदान करती है ।

राजर्षि चाणक्य की दृष्टि में संसार में पाँच ही 'पितर'-पदवी के अधिकारी हैं, जिनमें से एक विद्यादाता गुरु भी है—

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति ।

अन्नदाता भयस्त्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥ —चा० ४।१६

अर्थ—जन्म देनेवाला पिता, उपनयन-संस्कार करानेवाला गुरु, विद्या देनेवाला, अन्नदाता और भय से रक्षा करनेवाला—ये पाँच 'पितर' माने गये हैं ।

आलस्योपहता विद्या परहस्तगताः स्त्रियः ।

अल्पबीजं हतं क्षेत्रं हतं सैन्यमनायकम् ॥ —चा० ५।७

अर्थ—आलस्य से विद्या नष्ट हो जाती है, दूसरे के पास गई हुई स्त्री नष्ट हो जाती है, बीज की कमी से खेत नष्ट हो जाता है और सेनापति से रहित सेना मारी जाती है ।

अभ्यासाद्धार्यते विद्या कुलं शीलेन धार्यते ।

गुणेन ज्ञायते त्वार्यः कोपो नेत्रेण गम्यते ॥ —चा० ५।८

अर्थ—विद्या की प्राप्ति निरन्तर अभ्यास से होती है । कुल की स्थिरता, कुल का यश और गौरव उत्तम गुण-कर्म और स्वभावों से फैलता है । आर्य की पहचान श्रेष्ठ गुणों से होती है और क्रोध का ज्ञान नेत्रों से हो जाता है।

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च ।

व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च ॥ —चा० ५।१५

अर्थ—विदेशों में विद्या मनुष्य का सच्चा मित्र होता है । घर में शील-गुण-युक्त नारी मनुष्य की वास्तविक मित्र होती है । रोगी के लिए औषध मित्र होता है और मरे हुए मनुष्य का मित्र उसका धर्म होता है ।

वित्तेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।

मृदुना रक्ष्यते भूपः सत्स्त्रिया रक्ष्यते गृहम् ॥ —चा० ५।६

अर्थ—धन से धर्म की, योग से विद्या की, कोमलता और मधुरता से राजा की तथा सती स्त्री द्वारा घर की रक्षा होती है ।

शुनः पुच्छमिव व्यर्थं जीवितं विद्यया विना ।

न गुह्यगोपने शक्तं न च दंशनिवारणे ॥ —चा० ७।१६

अर्थ—जैसे कुत्ते की पूँछ न तो गुप्तेन्द्रियों को ढाँपने में ही समर्थ है और न ही मच्छर आदि को उड़ाने में। इसी प्रकार विद्याहीन व्यक्ति का जीना व्यर्थ होता है।

गुणो भूषयते रूपं शीलं भूषयते कुलम्।
सिद्धिर्भूषयते विद्यां भोगो भूषयते धनम्॥ —चा० ८।१५

अर्थ—गुणों से रूप सुन्दर लगता है, शील कुल को चार चाँद लगा देता है, सिद्धि से विद्या सुशोभित होती है और भोग—मिल-बाँटकर खाना धन को अलंकृत कर देता है।

निर्गुणस्य हतं रूपं दुःशीलस्य हतं कुलम्।
असिद्धस्य हता विद्या अभोगेन हतं धनम्॥ —चा० ८।१६

अर्थ—गुणहीन मनुष्य का सौन्दर्य व्यर्थ होता है, शीलरहित का कुल निन्दित होता है, अलौकिक शक्तियों से रहित, मोक्ष की ओर न ले-जानेवाली और बुद्धि से रहित विद्या व्यर्थ होती है तथा भोग के बिना धन व्यर्थ होता है।

किं कुलेन विशालेन विद्याहीनेन देहिनाम्।
दुष्कुलीनोऽपि विद्वांश्च देवैरपि सुपूज्यते॥ —चा० ८।१९

अर्थ—विद्याहीन बड़े कुल से मनुष्य को क्या लाभ है? नीच कुल में उत्पन्न होनेवाला विद्वान् भी देवों—विद्वानों के द्वारा अत्यन्त सम्मानित होता है।

विद्वान् प्रशस्यते लोके विद्वान् गच्छति गौरवम्।
विद्यया लभ्यते सर्वं विद्या सर्वत्र पूज्यते॥ —चा० ८।२०

अर्थ—संसार में विद्वान् ही प्रशंसित होता है, विद्वान् ही सर्वत्र आदर पाता है। विद्या से धन-धान्य, मान-प्रतिष्ठा आदि सब-कुछ मिलता है। विद्या का सर्वत्र आदर होता है।

धनहीनो न हीनश्च धनिकः स सुनिश्चयः।
विद्यारत्नेन यो हीनः स हीनः सर्ववस्तुषु॥ —चा० १०।१

अर्थ—जो मनुष्य धन से हीन है, वह दीन-हीन नहीं है यदि वह विद्यारूपी धन से युक्त है तो वह निश्चय ही महाधनी है, परन्तु जो मनुष्य विद्यारूपी रत्न से हीन है वह सभी वस्तुओं से हीन है।

सुखार्थी च त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी च त्यजेद् सुखम्।
न विद्यासुखयोः सन्धिस्तेजस्तिमिरयोरिव ॥ —चा०रा० ३।२५

अर्थ—सुखार्थी को विद्या प्राप्ति की आशा छोड़ देनी चाहिए और विद्यार्थी को सुख-प्राप्ति की आशा छोड़ देनी चाहिए, क्योंकि विद्या और सुख की सन्धि ऐसे ही असम्भव है, जैसे प्रकाश और अन्धकार का मेल।

गृहाऽऽसक्तस्य नो विद्या नो दया मांसभोजिनः ।
द्रव्यलुब्धस्य नो सत्यं स्त्रैणस्य न पवित्रता ॥ —चा० ११।५

अर्थ—घर में आसक्त विद्यार्थी विद्या की प्राप्ति नहीं कर सकता। मांसाहारी में दया, धन-लोभी में सत्यता और व्यभिचारी में पवित्रता नहीं होती।

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥ —चा० १२।१६

अर्थ—क्रमशः पानी की एक-एक बूँद गिरने से घड़ा भर जाता है, इसी प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास करने से सब विद्याओं की प्राप्ति हो जाती है, इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके धर्म और धन का सञ्चय भी हो जाता है।

विमर्श—धीरे-धीरे अभ्यास करने से सब सध जाता है।

यथा खात्वा खनित्रेण भूतले वारि विन्दति।
तथा गुरुगतां विद्यां शूश्रूषुरधिगच्छति ॥ —चा० १३।१

अर्थ—जैसे फावड़े आदि के द्वारा भूमि को खोदकर व्यक्ति उसमें से जल प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार सेवा करनेवाला विद्यार्थी गुरुगत विद्या को प्राप्त कर पाता है।

विमर्श—विद्या-प्राप्ति के उपायों में सर्वप्रथम उपाय गुरु-सेवा है।

गुरुशूश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा ।

अथवा विद्यया विद्या चतुर्थो नोपलभ्यते ॥ —चाणक्य-सार-संग्रह १।३६

अर्थ—विद्या की प्राप्ति या तो गुरु-सेवा से हो सकती है अथवा बहुत बड़ी धनराशि द्वारा विद्या अर्जित की जा सकती है, अथवा विद्या के द्वारा (एक विद्या पढ़कर, दूसरी विद्या पढ़ाना) विद्या की प्राप्ति हो सकती है, चौथा कोई प्रकार नहीं है।

शनैरर्थाः शनैः पन्थाः शनैः पर्वतमारुहेत ।

शनैर्विद्या च धर्मश्च व्यायामश्च शनैः शनैः ॥ —चा० ६।१४

अर्थ—धीरे-धीरे धनोपार्जन करना चाहिए, धीरे-धीरे मार्ग गमन करना चाहिए, धीरे-धीरे पर्वत पर चढ़ना चाहिए, धीरे-धीरे विद्या और धर्म का साधन करना चाहिए तथा धीरे-धीरे व्यायाम करना चाहिए।

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।

यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

—चा० १५।१०

अर्थ—वेदादि शास्त्र अनन्त हैं और विद्याएँ भी बहुत हैं। दूसरी ओर समय बहुत कम है और विघ्न बहुत हैं, अतः इन शास्त्रों में जो सार है, उसे ग्रहण करना चाहिए, जैसे हंस दूध और पानी के मिश्रण में से दूध को ग्रहण कर लेता है और पानी को छोड़ देता है।

विमर्श—शास्त्र अनन्त हैं, यथा—वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, दर्शन, उपनिषद्, स्मृतियाँ, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, इतिहासग्रन्थ आदि। विद्याएँ बहुत हैं। किन्हीं के मत में चार ही विद्याएँ हैं—

आन्वीक्षिकी त्रयीवार्ता दण्डतीतिश्च शाश्वती ।

विद्या एवैता योगक्षेमाय देहिनाम् ॥ —कामन्दकीय० २।२

अर्थ—आन्वीक्षिकी—तर्कशास्त्र, त्रयी—वेदत्रयी की विद्या, वार्ता—खेती और व्यवसाय, पशुपालन तथा शाश्वती दण्डनीति—ये चार विद्याएँ मनुष्यों के योगक्षेम के लिए हैं।

महर्षि मनु ने आत्मविद्या को भी इनके साथ जोड़ा है। [द्र०मनु० ७।४३] साधारणतया चौदह विद्याएँ मानी जाती हैं, यथा—चार वेद, छह वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरुक्त), धर्ममीमांसा, तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र और इतिहासग्रन्थ।

पुस्तकेषु च या विद्या परहस्तेषु यद्धनम्।
उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्धनम्॥ —चा० १६।२०

अर्थ—जो विद्या पुस्तकों में लिखी हुई है और जो धन दूसरों के हाथों में है, काम पड़ने पर न तो वह विद्या काम आती है, न ही धन।

विद्या से विनम्रता की प्राप्ति

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

अर्थ—विद्या से मनुष्य में विनम्रता आती है, विनम्रता से योग्यता प्राप्त होती है, योग्यता से धन की प्राप्ति होती है, धन से धर्म होता है और धर्म से सुख मिलता है।

वही लोग धन्य हैं, जो विद्याविलासी हैं।

विद्या विलासमनसो धृतशीलशिक्षाः सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥

अर्थ—जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शीलस्वभावयुक्त, सत्य भाषणादि नियम-पालनयुक्त और जो अभिमान-अपवित्रता से रहित, अन्य की मलीनता के नाशक, सत्योपदेश से संसारी-जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में रत रहते हैं, वे नर और नारी धन्य हैं।

विद्वान् का स्थान राजा से भी ऊँचा

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥

अर्थ—विद्वान् और राजा में कदापि तुलना नहीं की जा सकती, राजा अपने देश में पूजा जाता है और विद्वान् का सब जगह आदर होता है।

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूजनीयो न पूज्यते।
त्रीणी तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥ —स्क०पु०माहेश्वरखण्ड ३।४५

अर्थ—जहाँ अविद्वानों की पूजा होती है और विद्वानों का निरादर किया जाता है वहाँ पर दुर्भिक्ष—अकाल, मृत्यु और भय का प्रादुर्भाव होता है।

विद्याधन को कोई बाँट नहीं सकता

न चौरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्ययकृते वर्धत एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

अर्थ—विद्या को चोर चुरा नहीं सकता, राजा छीन नहीं सकता, भाई बाँट नहीं सकते, फिर इसका कोई भार नहीं। व्यय करने पर नित्य बढ़ती ही है, अतः विद्यारूपी धन सब धनों में प्रधान है। और कहा है—

ज्ञातिभिर्वण्ट्यते नैव चौरेणापि न नीयते।
दाने नैव क्षयं याति विद्यारत्नं महाधनम्॥

अर्थ—विद्यारत्नरूपी महाधन को सम्बन्धी लोग बाँट नहीं सकते, चोर इसे ले-जा नहीं सकता और दान से यह घटता नहीं है।

एक अन्य कवि ने भी लिखा है—

हर्तुर्न गोचरं याति दत्ता भवति विस्तृता।
कल्पान्तेऽपि न या नश्येत् किमन्यद्विद्यया समम्॥

अर्थ—विद्या चोर की आँखों में आती ही नहीं। खर्च करने पर भी बढ़ती है। सृष्टि का नाश होने पर भी नष्ट नहीं होती। भला विद्या के तुल्य संसार में क्या वस्तु हो सकती है?

चतुर्थावस्था में क्या करेगा

विद्याधनं श्रेष्ठधनं तन्मूलमितरद्धनम्।
दानेन वर्द्धते नित्यं न भाराय न नीयते॥

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम् ।
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति ॥

अर्थ—विद्या श्रेष्ठ धन है, अन्य सब धनों का मूल विद्या ही है,यह दान करने से बढ़ती है, और कहीं ले-जाने में इसका कोई भार भी नहीं है।

विद्यार्थी प्रथम अवस्था में विद्या, द्वितीय अवस्था अर्थात् गृहाश्रम में धन संग्रह करे, तृतीय अवस्था में पुण्य, नहीं तो शरीर के क्षीण होने पर चतुर्थ अवस्था में क्या करेगा ?

सज्जन और दुर्जन

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥

अर्थ—दुर्जन व्यक्ति के पास विद्या हो तो विवाद के लिए, धन अहंकार के लिए, शक्ति दूसरों को कष्ट देने के लिए होती है, सज्जन व्यक्ति के पास विद्या हो तो ज्ञान के लिए, धन हो तो दान के लिए, शक्ति हो तो रक्षा के लिए होती है।

राजा भर्तृहरि का घमण्ड

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किञ्चित् किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥

अर्थ—जब मैं बहुत थोड़ा जानता था तो यौवन में मस्त हाथी के समान मेरा मन विद्या के घमण्ड में चूर था। उस अभिमान में मैं अपने को सर्वज्ञ मानता था, पर जब वास्तविक विद्वानों की संगति में मुझे कुछ-कुछ ज्ञान हुआ तो पता चला कि मैं तो मूर्ख हूँ, मुझे तो कुछ भी नहीं आता। यह समझ आने पर मेरा वह अभिमान ज्वर के समान उतर गया और मैं शान्त हो गया हूँ।

निरुक्त में यास्कमुनि ने कहा है—

विद्या और ब्राह्मण

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।

असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूयाः वीर्यवती यथा स्याम् ॥

अर्थ—विद्या ब्राह्मण के पास गई और बोली—हे ब्राह्मण देवता ! तू मेरा रक्षक है, अतः मेरी रक्षा कर । मुझे उन निन्दक लोगों, कपटाचारी और असंयमियों को मत दे, जो मुझे प्राप्त कर मेरी निन्दा कराते हैं । ऐसों को दे जो निन्दा आदि गुणों से रहित हों, जिससे मैं वीर्यवती हो जाऊँ ।

एक अन्य कवि ने कहा है—

अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति ।

व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति सञ्चयात् ॥

अर्थ—हे विद्या देवि ! तेरा कोश बड़ा विचित्र है, जितना-जितना खर्च करो उतना-उतना ही यह बढ़ता जाता है, परन्तु संग्रह करने से यह क्षय हो जाता है, घट जाता है ।

प्रवास में विद्या मनुष्य का सच्चा मित्र

कामधेनु गुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी ।

प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम् ॥

अर्थ—विद्या कामधेनु के समान गुणों से युक्त है । यह असमय ही फल देनेवाली है । यह प्रवास में माता के समान हितकारिणी और रक्षिका है । विद्या को गुप्त धन माना गया है ।

शुक्रनीति में कहा है—

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च साधयेत् ।

न त्याज्यौ तु क्षणकणौ नित्यं विद्याधनार्थिना ॥

अर्थ—विद्या और धन चाहनेवाले को क्षण और कण का त्याग नहीं करना चाहिए, अपितु एक-एक क्षण का सदुपयोग करके विद्या की साधना

करनी चाहिए और कण-कण (थोड़ा-थोड़) जोड़कर धन का संचय करना चाहिए।

विद्या नाम नरस्य कीर्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रया,
धेनुः कामदुघा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयञ्च सा।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणं,
तस्मादन्यमुपेक्ष्य सर्वविषयं विद्याऽधिकारं कुरु ॥

अर्थ—विद्या मनुष्य की अतुलनीय कीर्ति है, भाग्य नष्ट होने पर आसरा है, कामधेनु गाय है, वियोग में स्त्री है और तीसरी आँख है, सत्कार का मन्दिर है, कुल की महिमा है, रत्नों के बिना आभूषण है। इसलिए और सारे विषयों को छोड़कर विद्या प्राप्त कर।

पुस्तकेषु च नाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

अर्थ—जिसने पुस्तक में नहीं पढ़ा और गुरु के पास भी नहीं पढ़ा वह विद्वानों की सभा में ऐसे ही शोभा नहीं देता जैसे हंसों के बीच में बगुला।

माता शत्रु पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

अर्थ—वे माता-पिता बालक के महाशत्रु हैं जो उन्हें विद्या नहीं पढ़ाते। विद्याहीन बालक विद्वानों की सभा में वैसे ही नहीं शोभते, जैसे हंसों के बीच में बगुला।

हा हा पुत्रक नाधीतं सुगतैतासु रात्रिषु।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि॥

अर्थ—माँ कहती है कि हाय मेरे बेटे! तूने इन बीती हुई अच्छी रातो में विद्या नहीं पढ़ी, इसलिए तू विद्वानों के बीच में ऐसे ही बैठेगा जैसे कीचड़ में गाय बैठती है और अच्छी नहीं लगती।

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में मनु के श्लोक का उद्धरण देते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्न-गोमही-वासस्तिलकाञ्चन-सर्पिषाम् ॥

अर्थ—संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों में वेदविद्या का दान अति श्रेष्ठ है, इसलिए जितना बन सके उतना प्रयत्न तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि में किया करे, जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान् होता है।

अन्योक्तयः

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ॥

—पातञ्जल महा० १ अ० १ पाद

अर्थ—ब्राह्मण निष्कारण छहों अङ्गोंसहित वेद का अध्ययन करे।

उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किञ्चिदधीत्य ब्राह्मणः ॥

—बोधायनगृह्यसूत्र

अर्थ—ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करनेवाला यज्ञोपवीतधारी कुछ वेद पढ़कर ब्राह्मण होता है।

एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः ॥

अर्थ—वेद की एक शाखा का अध्ययन करके 'श्रोत्रिय' होता है।

एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य च ।
षट्कर्म निरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥ —दानकमलाकर

अर्थ—कल्प अथवा षडङ्गोंसहित वेद की एक शाखा का अध्ययन करके छह कर्मों (पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना) में निरत धर्म को जाननेवाला ब्राह्मण श्रोत्रिय होता है।

सिद्धि का अर्थ बुद्धि भी होता है। बुद्धि से विद्या सुशोभित होती है। यदि मनुष्य के पास बुद्धि नहीं है तो **'साक्षरा विपरीतत्वे भवन्ति राक्षसा ध्रुवम्'**। 'साक्षरा' विपरीत बुद्धि होने पर 'राक्षस' बन जाते हैं, अतः विद्या की सफलता बुद्धि और मोक्ष की प्राप्ति में है। गीता में कहा है—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

अर्थ—ज्ञान के समान संसार में पवित्र कोई चीज नहीं है ।

धीं श्रीं स्त्रीम् ॥१॥ —पिङ्गलछन्द

अर्थ—पिङ्गलाचार्य कहते हैं कि मनुष्य सबसे पहले बुद्धि या विद्या प्राप्त करे, उसके पश्चात् धन उपार्जन करे, तत्पश्चात् अर्थात् बुद्धि और धनोपार्जन के पश्चात् स्त्री अर्थात् गृहाश्रम में प्रवेश करे ।

विमर्श—परन्तु आज ९० प्रतिशत बुद्धि के विपरीत आचरण हो रहा है । महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है—

सर्वे विद्या राजधर्मेषु युक्ताः

सर्वे लोकाः राजधर्मे प्रविष्टाः

सर्वे धर्माः राजधर्मप्रधानः ।

अर्थ—अर्थात् सब विद्याएँ राजधर्म से सम्बन्धित हैं, सारे लोक राजधर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं । सब धर्मों में राजधर्म प्रधान धर्म है । इसीलिए कई शास्त्रकारों ने राजनीति को एक महायज्ञ अर्थात् पवित्र और श्रेष्ठतम कर्म बताया है ।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ —गीता ५ अ० १८

अर्थ—विद्वान् लोग न्याय करते समय विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और कुत्तों के लिए भोजन पकानेवाले चाण्डाल इन सबको एक दृष्टि से देखते हैं ।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।

वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ —रघुवंश

अर्थ—शैशवकाल में विद्या का अभ्यास करे, युवावस्था में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, बुढ़ापे में मुनि बनकर मनन करे, अन्तिम अवस्था में योग द्वारा शरीर को त्याग देवे ।

प्राचीन काल में विद्या का महत्त्व

आर्यसभ्यता के आदिम राजनीतिज्ञ मनु भगवान् कहते हैं कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरण् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ —मनु० २।२०

अर्थ—ब्रह्मावर्त के ब्राह्मणों से विश्वभर के मनुष्य सदाचार की शिक्षा प्राप्त करें। प्राचीन आर्य ऋषि अपनी वैदिक शिक्षा, विद्या-सदाचार से संसार की समस्त जातियों को अपना शिष्य बनाकर उनपर अपना प्रभाव जमाते थे।

विमर्श—वैदिक काल में विद्या-शिक्षा का अधिक प्रचार-प्रसार था, तभी तो मनु ने सिंह-गर्जना की थी। मनु ने और आगे कहा है—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।

न साहसिक-दण्डघ्नो स राजा शक्रलोकभाक् ॥

अर्थ—जिस राजा के राज्य में चोर, व्यभिचारी, दुष्ट वाक्य बोलनेवाला, साहसी और दण्ड का न माननेवाला नहीं होता, वही राजा इन्द्र के समान राज्य करता है। आर्यराज्य का यह काल्पनिक आदर्श नहीं है। प्रत्युत राजा अश्वपति कहते हैं कि—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।

नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

अर्थ—मेरे राज्य में न चोर है, न कंजूस है, न मद्यपान करनेवाले हैं, न अग्निहोत्र न करनेवाले हैं, न मूर्ख हैं, न व्यभिचारी हैं और न व्यभिचारिणी है। यही शासन का यथार्थ आदर्श है।

वाल्मीकीय रामायण में ज्यों-का-त्यों इन्हीं वाक्यों को दुहराया गया है। महाराजा दशरथ की भी घोषणा है—

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।

द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिकः ॥ —वाल्मीकि चतुर्थसर्ग

अर्थ—अयोध्या नगर में कोई भी मनुष्य कामी, कंजूस, निर्दयी, मूर्ख और नास्तिक नहीं है ।

विमर्श—जहाँ पर सभी दुर्गुणों का निषेध किया है, वहाँ पर विशेषरूप से यह भी बताया गया है कि मेरे राज्य में (नाविद्वान्) कोई मूर्ख नहीं है, अतएव सभी साक्षर थे । राजा भोज ने पदे-पदे विद्वत्ता का उल्लेख किया है और बड़े गर्व से कहा कि मेरे राज्य में ब्राह्मण हो या कुम्भकार या जुलाहा या भार ढोनेवाला हो, यदि मूर्ख है तो मेरे राज्य में निवास करने का अधिकारी नहीं है । इससे पता चलता है कि राजा भोज के काल में संस्कृत विद्या का प्रचार-प्रसार अधिक था । जैसाकि निम्न श्लोक से विदित होता है—

विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः, स पुराद् बहिरस्तु मे ।
कुम्भकारोऽपि यो विद्वान्, स तिष्ठतु पुरे मम ॥

अर्थ—यदि कोई ब्राह्मण भी मूर्ख है, तो वह मेरी नगरी से बाहर हो जाए और यदि कोई कुम्भकार भी विद्वान् है, तो वह मेरी नगरी में निवास करे ।

एक बार कोई विद्वान् राजा भोज की नगरी में आया और कहा—राजन्! मैं आपकी नगरी में निवास करना चाहता हूँ । राजा ने मन्त्री से कहा—इन्हें रहने का स्थान दो । मन्त्री ने राज्य के सब स्थानों की खोज-बीन की, परन्तु उसे कोई व्यक्ति मूर्ख नहीं दिखाई दिया, जिससे उसे निकालकर उस विद्वान् को स्थान दे दिया जाए । बहुत छान-बीन करने पर एक जुलाहा दिखाई दिया, मन्त्री ने जुलाहे से कहा—तू इस घर को खाली कर दे, इस घर में विद्वान् रहेंगे । उस जुलाहे ने राजा से शिकायत की कि आपका मन्त्री मुझे मूर्ख कहकर घर से निकाल रहा है । अब आप ही विचार करें कि मैं मूर्ख हूँ या विद्वान् हूँ—

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि,
यत्नात्करोमि यदि चारुतरं करोमि ।
भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठ,
हे साहसाङ्क ! कवयामि वयामि यामि ॥

अर्थ—हे राजाओं के माथे की मणियों से मण्डित आसनवाले साहसी राजन् ! मैं कविता तो करता हूँ किन्तु सुन्दर नहीं कर पाता हूँ। यदि मैं परिश्रम करूँ तो बढ़िया भी बना सकता हूँ। अब आप ही बताएँ ? मैं कविता बनाऊँ या बुनता रहूँ अथवा आपकी नगरी छोड़कर चला जाऊँ। राजा ने जुलाहे की विद्वत्ता देखकर नगरी में रहने की आज्ञा दी और पुरस्कृत किया।

विमर्श—जुलाहे ने एक वाक्य में तीन बातें कह दी, जैसे 'कवयामि' शब्द है। कविता करता हूँ, 'क' हटा देने पर वयामि होता है, वयामि का अर्थ है बुनता हूँ। 'व' हटा देने पर यामि होता है अर्थात् जाता हूँ। अहा! हमें जुलाहे की विद्वत्ता पर गर्व करना चाहिए।

राजा भोज ने एक व्यक्ति को मूर्ख कहकर पुकारा। उस व्यक्ति ने कहा—राजन् ! मैं मूर्ख कैसे हूँ, जबकि मुझमें निम्न दोष नहीं है—

खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे गतं न शोचामि कृतं न मन्ये।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन् किं कारणं भोज भवामि मूर्खः॥

अर्थ—राजन् ! मैं खाता हुआ चलता नहीं हूँ, हँसता हुआ बात नहीं करता, बीती हुई बात पर ध्यान नहीं देता। किसी के साथ कुछ उपकार करके पछताता नहीं हूँ। जहाँ दो व्यक्ति वार्तालाप करते हों, वहाँ तीसरा होकर सुनता नहीं हूँ। जब मुझमें इस प्रकार के दोष नहीं हैं तो मैं किस तरह से मूर्ख हूँ ?

विमर्श—राजा भोज की नगरी में सभी बुद्धिमान् पढ़े-लिखे लोग रहते थे, मूर्ख कोई नहीं था, इसका कारण विद्या का प्रचार-प्रसार था।

उपसंहार

सा विद्या या विमुक्तये।

अर्थ—विद्या वही है जो मुक्ति प्राप्त करानेवाली हो।

विद्या हि सा मुक्तिप्रदा या। —प्रश्नोत्तरी

अर्थ—निश्चय से विद्या वही है जो मुक्ति दिलाती है, यह आचार्य शंकर का मत है।

विद्या

चाणक्यसूत्र में कहा गया है—

भूषणानां भूषणं सविनया विद्या ॥ —चा०सू० ३६८

अर्थ—समस्त आभूषणों का आभूषण विनय-सम्पन्न विद्या होती है।

विद्याधनमधनानाम् ॥ —चा०सू० २६५

अर्थ—निर्धनों का धन विद्या ही है।

विद्या चौरैरपि न ग्राह्या ॥ —चा०सू० २६६

अर्थ—विद्या को चोर भी नहीं चुरा सकते ॥

विद्यया ख्यापिता ख्यातिः ॥ —चा०सू० २६७

अर्थ—विद्या से शीघ्र ख्याति मिल जाती है।

नीचस्य विद्या नोपेक्षितव्या ॥ —चा०सू० ३०२

अर्थ—नीच पुरुष की भी विद्या की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, अर्थात् नीच से भी विद्या ग्रहण कर ले।

महाभारत में विद्या के विषय में बहुत कुछ लिखा है—

विद्यया स्फीयते ज्ञानं ज्ञानात् तत्त्वनिदर्शनम् ।
दृष्टतत्त्वो विनीतात्मा सर्वार्थस्य च भाजनम् ॥

—महा० अनु० अ० १४५ पृ० ५६५६

अर्थ—विद्या से ज्ञान बढ़ता है, ज्ञान से तत्त्व का दर्शन होता है और तत्त्व का दर्शन कर लेने के पश्चात् मनुष्य विनीतचित्त होकर समस्त पुरुषार्थों का भाजन हो जाता है।

शक्यं विद्याविनीतेन लोके संजीवनं शुभम् ।
आत्मानं विद्यया तस्मात् पूर्वं कृत्वा तु भाजनम् ॥
वश्येन्द्रियो जितक्रोधो भूतात्मानं तु भावयेत् ॥

—महा० अनु० अ० १४५ पृ० ५६५६

अर्थ—विद्या से विनीत हुआ पुरुष संसार में शुभ जीवन बिता सकता है, अतः अपने-आपको पहले विद्या द्वारा पुरुषार्थ का भाजन बनाकर क्रोध विजयी एवं जितेन्द्रिय पुरुष सम्पूर्ण भूतों के आत्मा—परमात्मा का चिन्तन करे।

विद्यादानं तथा देवि ! पात्रभूताय वै ददत् ।
प्रेत्यभावे लंभेन्मर्त्यो मेधां वृद्धिं धृतिं स्मृतिम् ॥

—महा० अनु० अ० १४५ पृ० ५६६६

अर्थ—श्री महेश्वर उमा से कहते हैं—देवि ! सुपात्र शिष्य को विद्या दान देनेवाला मनुष्य मृत्यु के पश्चात् वृद्धि, बुद्धि, धृति और स्मृति प्राप्त करता है।

कार्याकार्यं विजानन्ति विद्यया देवि ! नान्यथा ॥

—महा० अनु० अ० १४५ पृ० ५६५५

अर्थ—देवि ! विद्या से लोग कर्तव्य और अकर्तव्य को जानते हैं, अन्यथा नहीं।

ये पुरा मनुजा देवि ! गुरुशुश्रूषका भृशम् ।
ज्ञानार्थं ते तु संगृह्य तीर्थं ते विधिपूर्वकम् ॥
विधिनैव पराँश्चैव ग्राहयन्ति च नान्यथा ।
अश्लाघमाना ज्ञानेन प्रशान्ता यतवाचकाः ॥
विद्यास्थानानि ये लोके स्थापयन्ति च यत्नतः ।
तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ॥
मेधाविनः श्रुतिधरा भवन्ति विशदाक्षराः ॥

—महा० अनु० अ० १४५ पृ० ५६६३

अर्थ—श्री महेश्वर ने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले गुरु की अत्यन्त सेवा करनेवाले रहे हैं और ज्ञान के लिए विधिपूर्वक गुरु का आश्रय लेकर स्वयं भी दूसरों को विधि से ही अपनी विद्या ग्रहण कराते रहे हैं, अविधि से नहीं, अपने ज्ञान के द्वारा जो कभी अपनी झूठी बड़ाई नहीं करते रहे हैं,

अपितु शान्त और मौन रहे हैं तथा जो जगत् में यत्नपूर्वक विद्यालयों की स्थापना करते रहे हैं, शोभने ! ऐसे पुरुष जब मृत्यु को प्राप्त होकर पुनः जन्म लेते हैं, तब मेधावी, किसी बात को एक बार ही सुनकर उसे याद कर लेनेवाले और विशद अक्षर-ज्ञान से सम्पन्न होते हैं ।

अनुरूपाय शिष्याय यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
यथोक्तस्य प्रदानस्य फलमानन्त्यमश्नुते ॥

—महा० अनु० अ० १४५ पृ० ५६६६

अर्थ—जो सुयोग्य शिष्य को विद्या दान करता है, उसे शास्त्रोक्त दान का अक्षय फल प्राप्त होता है ।

सर्वे पूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः ।
दानप्रदाः सुखं प्रेत्य प्राप्नुवन्तीह च श्रियम् ॥ —अनु० अ० १२२।११

अर्थ—जो विद्या के धनी और तपस्वी हैं, वे सब पूजनीय हैं तथा दान देनेवाले भी इस लोक में धन-सम्पत्ति और परलोक में सुख पाते हैं ।

विद्याभ्यासैर्वृद्धयोगैरात्मानं विनयं नयेत् ।
विद्या धर्मार्थफलिनी तद्विदो बृद्धसंज्ञिताः ॥ —अ० १४५ पृ० ५६४८

अर्थ—विद्या के अभ्यास और वृद्ध पुरुषों के संग से मनुष्य अपने-आपको विनयशील बनाए । विद्या धर्म और अर्थरूप फल देनेवाली है । जो उस विद्या के ज्ञाता हैं, उन्हीं को वृद्ध कहते हैं ।

विभिन्न ग्रन्थों में भी विद्या की प्रशंसा की गई है—

विद्ययाऽमृतमश्नुते । —यजुः० ४०।१४

अर्थ—विद्या से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

महर्षि मनु विद्या की प्रशंसा में लिखते हैं—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयस्करं परम ।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ —मनु० १२।१०४

अर्थ—सत्य भाषण आदि तप और विद्या—ये दोनों ही बुद्धिमानों का कल्याण करनेवाले हैं । तप से मनुष्य पापों से बचता है और विद्या से अमृत की प्राप्ति होती है ।

शतपथब्राह्मण में कहा है—

विद्यया तदारोहति यत्र कामाः परागताः ।

न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविदा ँ सस्तपस्विनाः ॥—शत० १०।४।२।१६

अर्थ—विद्या के प्रभाव से मनुष्य उस पद को प्राप्त करता है कि जहाँ सब सुखों की अन्तिम सीमा है तथा जो पदार्थ धन, चतुरता तथा विद्या-रहित तप से नहीं मिल सकते, वे सब विद्या के प्रताप से मिल सकते हैं।

एतरेय ब्राह्मण में लिखा है—

केन ब्रह्मत्वं क्रियते ? त्रय्यीविद्ययेति ॥ —एतरेय ५।५।८

अर्थ—ब्रह्मत्व की प्राप्ति कैसे होती है ? त्रयीविद्या के अध्ययन से मनुष्य को ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है—

विद्यया देवलोकः देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति ॥

—बृहदा० १।५।१६

विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है। देवलोक सारे लोकों में श्रेष्ठ है, इसलिए विद्या की प्रशंसा की जाती है।

केनोपनिषत्कार का कथन है—

विद्यया विन्दतेऽमृतम् । —केन० २।२।४

अर्थ—विद्या से परम आनन्द की प्राप्ति होती है।

छान्दोग्य-उपनिषद् में कहा है—

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति ॥

—छा० १।१।१०

अर्थ—मनुष्य जिस कर्म को विद्या से, श्रद्धा और ज्ञान से करता है, वह कर्म अधिक फलप्रद होता है।

निरुक्तकार महर्षि यास्क ने लिखा है—

विद्यातः पुरुषविशेषो भवति ॥ —नि० १।५।१४

अर्थ—विद्या से ही मनुष्य श्रेष्ठ और मान्य बनता है।

महाभारतकार महर्षि व्यास कहते हैं—

नास्ति विद्यासमं चक्षुः । —महा०शा० १७५।३५

अर्थ—संसार में विद्या के समान अन्य कोई नेत्र नहीं है।

पूर्वमीमांसा में लिखा है—

विद्या प्रशंसा ॥ —पूर्वमी० १।२।१५

अर्थ—विद्या से ही मनुष्य सुशोभित एवं प्रशंसनीय होता है। इस सूत्र के भाष्य में शबर स्वामी लिखते हैं—**'शोभतेऽस्य मुखम्'**—विद्या से ही मुख की शोभा होती है।

सांसारिक सुखों के अतिरिक्त मोक्षसुख भी विद्या से ही प्राप्त होता है।

वेदान्त-दर्शन में कहा है—

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ —वेदान्त० ३।३।४७

अर्थ—अध्यात्मशास्त्रों में निश्चित कर दिये जाने से विद्या ही मोक्ष का साधन है।

इसी तथ्य को पुनः स्पष्ट करते हुए व्यासजी कहते हैं—

तत् श्रुतेः ॥ —वे० ३।४।४

अर्थ—वेद भी विद्या-प्राप्ति से ही मुक्ति का विधान करता है।

आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक में कहा गया है—

विद्यावृणनाम् ॥ —चरक०सू० ३०।१४

अर्थ—शरीर और मन की वृद्धि का मुख्य हेतु विद्या ही है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में अविद्या और विद्या की परिभाषा करते हुए कहा है—

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या । —श्वेता० ५।१

अर्थ—जिसका नाश होता है उसे अविद्या और जिसका नाश नहीं होता उसे विद्या कहते हैं।

वैशेषिकदर्शन में विद्या का लक्षण इस प्रकार किया है—

अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥ —वैशेषिक० ७।१।२१

अर्थ—अविद्या ही विद्या का लिङ्ग अर्थात् जनानेवाली है। तात्पर्य यह है कि जो अविद्या से विपरीत स्वभाववाली है, उसी को विद्या कहते हैं।

आगे चलकर महर्षि कणाद पुनः अविद्या और विद्या का स्वरूप बताते हैं—

तद्दुष्टं ज्ञानम्। अदुष्टं विद्या ॥ —वैशे० ६।२।११-१२

अर्थ—दोषपूर्ण ज्ञान का नाम अविद्या है और दोषरहित ज्ञान अथवा यथार्थ-ज्ञान का नाम विद्या है।

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ —मनु० २।११४

अर्थ—विद्या ने ब्राह्मण—वेदवेत्ता के पास जाकर कहा—"मैं तेरी निधि हूँ। मेरी रक्षा कर। असूया करनेवाले को मुझे मत दे। मेरी शक्तिमत्ता एवं सार्थकता इसी में है।"

इसी विषय को गीता में भी कहा गया है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ —गीता १८।६७

अर्थ—यह अध्यात्मविषयक ज्ञान ऐसे व्यक्ति को नहीं देना चाहिए जो तपस्वी न हो, विद्या के प्रति भक्ति न रखता हो, आचार्य के प्रति जिसमें सेवाभाव न हो तथा जो ईश्वर के प्रति आस्तिक बुद्धि रखनेवाला न हो।

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥

अर्थ—ब्रह्मवादी वेदाध्यापक भले ही विद्या को अपने साथ लेकर मर जाए, पर घोर विपत्ति में भी इसे ऊसर में न बोये, अर्थात् अनधिकारी को विद्या न दे।

न विद्यया विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम् ।
अतो धर्म्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत् ॥ —व्यवहार मनु०

अर्थ—बिना विद्या के मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता, क्या हुआ, किसी को क्षणभर सुख हुआ, न हुआ-सा है। किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जो अविद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत् जानकर सिद्ध कर सके।

शुक्रनीतिसार

शास्त्राध्ययन का फल—

नाहङ्कारी च धर्मान्धः शास्त्राणां तत्त्वचिन्तनैः।

एकं शास्त्रमधीयानो न विन्द्यात् कार्यनिर्णयम् ॥१३१

स्याद् बह्वागमसंदृशी व्यवहारो महानतः।

बुद्धिमानभ्यसेन्नित्यं बहुशास्त्राण्यतन्द्रितः ॥१३२

अर्थ—शास्त्रों के तत्त्व का चिन्तन करने से मनुष्य अभिमानी और धर्मान्ध नहीं होता। केवल एक शास्त्र [विषय] का अध्ययन करने से कार्य [तत्त्व] का निर्णय नहीं हो सकता। अनेक शास्त्रों का भली-भाँति अध्ययन करनेवाला व्यक्ति ही लौकिक व्यवहार का ज्ञाता हो सकता है, अतः बुद्धिमान् मनुष्य को आलस्यरहित होकर बहुत-से शास्त्रों का प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए।

विद्यादि से प्रमत्त होने का निषेध—

न विद्यया न शौर्येण धनेनाभिजनेन च।

न बलेन प्रमत्तः स्याच्चातिमानी कदाचन ॥८४

अर्थ—विद्या, शूरवीरता, धन, कुल और बल के मद से मतवाला नहीं होना चाहिए। अत्यन्त अहंकारी भी नहीं होना चाहिए।

विद्यादि के फल का निर्देश—

विद्यायाश्च फलं ज्ञानं विनयश्च फलं श्रियः।

यज्ञदाने बलफलं सद्रक्षणमुदाहृतम् ॥९२

अर्थ—विद्या का फल ज्ञान और विनय है। धन का फल यज्ञ तथा दान करना है और बल का फल सज्जनों की रक्षा बताया गया है।

उत्तम विद्यादि को नीच से भी लेने का निर्देश—

सुविद्यामन्त्रभैषज्यस्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।
गृह्णीयात् सुप्रयत्नेन मानमुत्सृज्य साधकः ॥६४

अर्थ—अपने कार्य को सिद्ध करनेवाला मनुष्य अपने अभिमान को छोड़कर अत्यन्त प्रयत्न के साथ उत्तम विद्या, मन्त्र, औषध और स्त्रीरत्न [उत्तम गुणयुक्त सुन्दर स्त्री] यदि नीच कुलवाले के पास हो तो उससे भी ग्रहण कर ले ।

अन्य धन की अपेक्षा विद्या की श्रेष्ठता का निर्देश—

पञ्चविंशत्यब्दपूरं तदर्थं वा तदर्धकम् ॥१७५॥
विद्याधनं श्रेष्ठतरं तन्मूलमितरद्धनम् ।
दानेन वर्धते नित्यं न भाराय न नीयते॥१७६॥

अर्थ—विद्यार्थी पच्चीस वर्ष तक अथवा उसका आधा साढ़े बारह वर्ष तक या सवा छह वर्ष तक अवश्य अध्ययन करे । विद्यारूपी धन अत्यन्त श्रेष्ठ है । दूसरे धन विद्यामूलक हैं [विद्या से अन्य धनों की प्राप्ति स्वयं हो जाती है] । यह विद्या धन देने से नित्य बढ़ता है, इसमें भार [बोझ] नहीं होता और उसे कोई उठाकर [चुराकर] भी नहीं ले जा सकता [अन्य धन व्यय करने से घटते हैं, उनमें भार होता है और कोई चुराकर भी ले जा सकता है] ।